आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत

ध्यानशतक

Pandit Nathuram Premi Research Series Volume 11

Jinabhhadragaṇi Kṣamāśramaṇa's

DHYĀNAŚATAKA

Translated by
Dr. Jaykumar Jalaj

Edited by
Manish Modi

Hindi Granth Karyalay
Mumbai
2009

"Dhyānaśataka"
By Jinabhadragaṇi Kṣamaśramaṇa
Pandit Nathuram Premi Research Series Volume 11
Hindi translation by Dr. Jaykumar Jalaj
Edited by Manish Modi
Mumbai: Hindi Granth Karyalay, 2009
ISBN 978-81-88769-20-9

HINDI GRANTH KARYALAY
Publishers Since 1912
9 Hirabaug CP Tank
Mumbai 400004 INDIA
Phones: + 91 (0) 22 2382 6739, 2035 6659
Email: manishymodi@gmail.com
Web: www.hindibooks.8m.com
Blog: http://hindigranthkaryalay.blogspot.com
Yahoogroup: http://groups.yahoo.com/group/Hindibooks
Yahoogroup: http://groups.yahoo.com/group/JainandIndology

First Edition: 2009
© Hindi Granth Karyalay

Cover design by: AQUARIO DESIGNS
Designer: Smrita Jain, smritajain@gmail.com

Library of Congress Cataloguing in Publication Data

Jinabhadragaṇi Kṣamaśramaṇa

Title **Dhyānaśataka**; tr. by Jaykumar Jalaj
I. Jainism II. Title
III. Series: Pandit Nathuram Premi Research Series; 11
294.4 - dc 22

This book is not for sale
Cost Price: Rs. 20/-

Printed in India by Trimurti Printers, Mumbai

जैं

पण्डित नाथूराम प्रेमी रिसर्च सिरीज़ वॉल्यूम ११

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत

ध्यानशतक

हिन्दी अनुवाद

डॉ. जयकुमार जलज

संपादन

मनीष मोदी

हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय

मुम्बई

२००६

प्रकाशकीय

पं. नाथूराम रिसर्च सिरीज़ के तहत अब तक हम आचार्य समन्तभद्र कृत **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**, आचार्य पूज्यपाद कृत **समाधितन्त्र** एवं **इष्टोपदेश**, आचार्य कुन्दकुन्द कृत **अट्ठपाहुड**, आचार्य जोइन्दु कृत **परमात्मप्रकाश** एवं **योगसार**, आचार्य प्रभाचन्द्र कृत **तत्त्वार्थसूत्र** और आचार्य नेमिचन्द्र कृत **द्रव्यसंग्रह** को हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कर चुके हैं ।

हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय के लिए उक्त ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद हमारे विशेष अनुरोध पर ख्यात साहित्यकार डॉ. जयकुमार जलज ने किया है, मध्यप्रदेश शासन द्वारा महावीर के २६००वें जन्मोत्सव पर सन २००२ में प्रकाशित जिनकी पुस्तक **भगवान महावीर का बुनियादी चिन्तन** अपने प्रकाशन के छह साल के भीतर ही इक्कीस संस्करणों और अनेक भाषाओं में अपने अनुवादों तथा उनके भी संस्करणों के साथ पाठकों का कण्ठहार बनी हुई है । आचार्य कुन्दकुन्द कृत **बारस अणुवेक्खा** का स्वनामधन्य पं. नाथूराम प्रेमी कृत हिन्दी अनुवाद पहले से ही हमारे द्वारा प्रकाशित है ।

उक्त अनुवादों को पाठकों ने जिस प्रकार हाथों हाथ लिया और हमें जल्दी जल्दी उनके संस्करण करने पड़े उससे उत्साहित होकर हमने इस सिलसिले को जारी रखने का निश्चय किया है। **ध्यानशतक** का डॉ. जलज कृत प्रस्तुत अनुवाद उसी निश्चय का परिणाम है ।

मूल प्राकृत गाथा को पर्याप्त मोटे फॉण्ट में और उसके अनुवाद को उससे कम पाइँण्ट के फ़ॉण्ट में मुद्रित किया गया है। इससे ग्रन्थ को पढ़ना सुगम बना रहेगा । सिरीज़ की अन्य कृतियों की तरह ही इसके काग़ज़, मुद्रण, मुखपृष्ठ, प्रस्तुति आदि को भी अन्तरराष्ट्रीय स्तर का बनाए रखने की चेष्टा की गई है। यह भी ध्यान रखा गया है कि मूल प्राकृत गाथा के ठीक नीचे उसी पृष्ठ पर उसका अनुवाद मुद्रित हो ताकि पाठक को अनुवाद पढ़ने के लिए पृष्ठ न पलटना पड़े ।

यशोधर मोदी

श्रुत अनुमोदना

पू. स्व. पिताश्री कन्हैयालालजी

माता श्रीमती अकल कवर

की पुण्य स्मृति में

पुत्र सुगनचंद - ताराबाई

उर्मिला - राजेश, बेला, संजय

मिनी - आनन्द, अभिषेक, अरिहन्त

अजिता, अवनी, बरड़ीया - जैन

बहम्सर - छबडा - चैन्नई (भारत)

खामेमि सव्व जीवेसु, सव्वे जीवा खम्मंतु मे।
मेत्ति मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झ ण केणवि॥

प्रस्तावना

ध्यान पर उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों में **ध्यानशतक** का विशेष स्थान है। अपनी प्राचीनता, अपनी युगीन प्राकृत भाषा, विषय के व्यवस्थित प्रस्तुतिकरण और विमर्श के कारण यह ग्रन्थ सदैव अध्येताओं को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है।

प्राय: सभी जैन आचार्य रचनाकार स्वयं के प्रति मोह से ऐसे मुक्त हैं कि अपनी रचना में वे अपने बारे में कुछ भी जानकारी नहीं देते। अन्य स्रोतों से ही उनके बारे में थोड़ी बहुत जानकारी मिल पाती है। लेकिन **ध्यानशतक** के रचनाकार आचार्य के बारे में अन्य स्रोत भी एकदम खामोश हैं। उनके जन्मवर्ष, जन्मस्थान, माता-पिता, जीवन काल, उनकी अन्य कृतियों आदि की तो छोड़िए उनके नाम के बारे में भी हमारे पास कोई प्रमाणसंगत जानकारी नहीं है। किसी परवर्ती रचनाकार/विमर्शकार अथवा भाष्यकार ने भी **ध्यानशतक** के रचयिता के नाम का कोई संकेत नहीं दिया है। अगर षड्दर्शन समुच्चय के यशस्वी लेखक बहुमुखी प्रतिभा के धनी जैनाचार्य हरिभद्रसूरि का **ध्यानशतक** पर लिखा गया भाष्य उपलब्ध नहीं होता तो हम **ध्यानशतक** के अस्तित्व से ही कदाचित् अपरिचित रहे आते। उनके भाष्य से हम इस कृति तक तो पहुँचते हैं पर इसके कृतिकार के नाम तक फिर भी नहीं पहुँचते ।

परम्परागत मान्यता है कि **ध्यानशतक** के रचनाकार का नाम जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण था। विशेषावश्यक भाष्य, जीतकल्पभाष्य आदि उनकी अन्य कृतियाँ हैं। इन अन्य कृतियों में भी उन्होंने अपना नाम नहीं दिया है। **ध्यानशतक** के कुछ संस्करणों में कदाचित् बाद में किसी के द्वारा जोड़ी गई १०६वीं गाथा भी मिलती है जिसमें इस ग्रन्थ की गाथा संख्या का निर्देश करते हुए इसे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की रचना कहा गया है-

पंच्चतुरेण गाह्रा सएण झाणस्स जं समक्खायं
जिनभद्द खमासमणेहिं कम्मविसोही करणं जइणो ।

(यति की कर्मशुद्धि करनेवाले इस ध्यानाध्ययन को जिनभद्र क्षमाश्रमण ने एक सौ पाँच गाथाओं में निबद्ध किया है)

प्रो. हरमन याकोबी को उद्धृत करते हुए डॉ. हीरालाल जैन और डॉ. ए.एन.उपाध्ये ने आचार्य हरिभद्रसूरि का अनुमानित समय ७५० ईस्वी दिया है। यह अनुमान ही हमें इस अनुमान तक पहुँचाता है कि **ध्यानशतक** के रचयिता का समय ७५० ईस्वी के अधिक नहीं तो सौ-दो सौ साल पहले का ज़रूर रहा होगा। यह वह समय है जब प्राकृत भाषा लोक व्यवहार की भाषा थी। इसी में जिनभद्र क्षमाश्रमण ने **ध्यानशतक** की रचना की।

ध्यानशतक ध्यान का सम्पूर्ण और सर्वांग विमर्श है। ध्यान के सभी प्रकारों - आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल की विशेषताओं, उनसे होने वाले हानि-लाभों, उनके महत्त्व, उनके विधि-विधान आदि का यह विधिवत् विवेचन है। इसमें विषय को बेहद तरतीब के साथ विवेचित/विश्लेषित किया गया है। अगर हम इसे इस विषय के अन्यान्य ग्रन्थों की तुलना में देखें तो इसके विवेचन की क्रमबद्धता के महत्त्व को आसानी से समझ सकेंगे। **ध्यानशतक** पढ़ते हुए लगता है जैसे हम किसी कक्षा में किसी निष्णात अध्यापक से यह विषय पढ़ रहे हैं। उसके रचयिता आचार्य ने उचित ही अपनी रचना को ध्यानाध्ययन (गाथा-१) कहा है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने भी ध्यानाध्ययनापरनामधेयम् कहकर इसकी पुष्टि की है। हरिभद्र सूरि ने ही इस कृति को **ध्यानशतक** जैसा सरल नाम दिया। गाथाओं की कुल संख्या शतक के पार होने के कारण यह नाम सटीक भी रहा और यह कृति **ध्यानशतक** के नाम से ही प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुई।

ध्यान के नियम क़ायदों को जानकर, उसकी सैद्धांतिकी का अनुसरण करके निश्चय ही उसके रास्ते पर आगे बढ़ने में मदद मिलती है। लेकिन अगर इस सबके बिना आगे बढ़ना सम्भव हो तो इस सबको छोड़ा भी जा सकता है। ट्रेन अगर गन्तव्य पर पहुँच जाये तो ट्रेन में बैठा रहना भी अकारथ है। **ध्यानशतक** की ३८, ३९, ४०, ४१ आदि गाथाओं में आचार्य रचनाकार हमें निष्कर्षों के इसी मक़ाम पर लाकर छोड़ते हैं।

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश के जैन आगम ग्रन्थों/जैन शास्त्रों के अपने हिन्दी अनुवादों में मैं दो ध्येय वाक्यों को लेकर चला हूँ - मूल रचना के साथ न्याय किया जाय और अनुवाद ऐसी प्रांजल भाषाशैली में हो कि वह आसानी से सम्प्रेषित हो सके। यह कोशिश भी मैंने की है कि अनुवाद में अपना तथाकथित ज्ञान न

बघारूँ, अपनी ओर से कोई जोड़जाड़ न करूँ। यह ज़रूरी सावधानी न बरती जाय तो अच्छी खासी सरल मूल रचना भी पेचीदा लग सकती है। हमारे आगम ग्रन्थ और शास्त्र निहायत सरल और सुलझे हुए हैं। लेकिन उनके ज़्यादातर अनुवादों ने उनकी अगमता और अपठनीयता की छवि निर्मित कर रखी है। कदाचित् इसीलिए हमने उन्हें पूजा के सिंहासन पर तो विराजमान किया, स्वाध्याय की चौकी पर नहीं रखा। मेरी कामना है कि जैन शास्त्र हमारी शिरोधार्यता के ही नहीं हमारे स्वाध्याय और अध्ययन के भी विषय बनें ताकि वे हमारे जीवन में उतर सकें।

ध्यानशतक पद्य के माध्यम के बावजूद कविता नहीं है। वह एक विषय विशेष का अध्ययन है। इसके लिए गद्य का माध्यम ज़्यादा उपयुक्त सिद्ध हुआ होता। लेकिन गद्य का प्रचलन न होने के कारण ध्यानशतककार को पद्य में विषय का विवेचन करना पड़ा। उन दिनों यह मजबूरी सभी विषयों के तमाम रचनाकारों की थी। इस मजबूरी के चलते अर्थ को खूब दबा-दबा कर छन्द में भरा जाता था, पारिभाषिक शब्दों को अधिक प्रयोग में लाया जाता था लेकिन कभी-कभी भरती के शब्दों से छन्द की मात्रिक/वर्णिक भरपाई भी की जाती थी। पारिभाषिक शब्दों का खुलासा अनुवाद के साथ करते हुए चलना आचार्य के मन्तव्यों का जस का तस निर्बाध सम्प्रेषण करने में दिक्कत खड़ी करता। अनुवाद को बार-बार प्रतीक्षा में बना रहना पड़ता। उसे स्थगित रहना पड़ता। इसलिए उनका खुलासा परिशिष्ट में किया गया है। अब पाठक अनुवाद के साथ क़दम से क़दम मिलाते हुए चल सकेंगे और ज़रूरी होने पर परिशिष्ट का सहारा ले सकेंगे। जहाँ तक मूल रचना के भरती के शब्दों का सवाल है अनुवाद को उनसे हर हाल में बचाया गया है।

जयकुमार जलज

30 इन्दिरा नगर
रतलाम
मध्य प्रदेश
457 001
दूरभाष : (07412) 260 911, 404 208
ई-मेल : jaykumarjalaj@yahoo.com

ध्यानशतक

वीरं सुक्कज्जणग्गिदड्ढकम्मिंधण पणमिऊणं ।
जोईसरं सरण्णं झाणज्झयणं पवक्खामि ॥१॥

शुक्ल ध्यान की अग्नि से कर्म के ईंधन को जला देने वाले योगीश्वर और सभी के शरण्य भगवान महावीर को नमन करके मैं ध्यानाध्ययन (ध्यानशतक) की रचना करता हूँ।

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं ।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥२॥

मन का एकाग्र होना ध्यान है। इसके विपरीत उसका चंचल होना सामान्यतः भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता है।

अंतोमुहुत्तमेतं चित्तावत्थाणमेगवत्थुंमि ।
छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥३॥

किसी वस्तु में थोड़ी देर के लिए मन लगना सांसारिक प्राणियों का ध्यान कहलाता है। इसके विपरीत योगों यानी देह के सम्बन्ध से जीव के व्यवहारों के नष्ट हो जाने, चित्त का अभाव हो जाने को जिनेन्द्रों का ध्यान कहते हैं।

अंतोमुहुत्तपरओ चिंता झाणंतरं व होज्जाहि ।
सुचिरंपि होज्ज बहुवत्थुसंकमे झाणसंताणो ॥४॥

सांसारिक प्राणियों का थोड़ी ही देर में ध्यानान्तर हो जाता है। उनका चित्त या चिन्ता संक्रमित हो जाती है। चूँकि अन्तरंग, बहिरंग में वस्तुओं की कमी नहीं है इसलिए चित्त का यह संक्रमण होता रहता है। यह क्रम लम्बे समय तक चल सकता है।

अट्टं रुद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइ तत्थ अंताइं।
निव्वाणसाहणाइं भवकारणमट्ट-रुद्दाइं ॥५॥

ध्यान के चार प्रकार हैं -आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। आर्त और रौद्र ध्यान संसार की ओर एवं धर्म और शुक्ल ध्यान मोक्ष की ओर ले जाते हैं।

अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स।
धणियं विओगचिंतणमसंपओगाणुसरणं च ॥६॥

[आर्त ध्यान चार प्रकार का है।] द्वेष से मलिन व्यक्ति को इन्द्रियों की विषयवस्तु के वियोग की चिन्ता रहना और उस विषय वस्तु के फिर प्राप्त नहीं होने का बार-बार ख्याल आना आर्त ध्यान का पहला प्रकार है।

तह सूल-सीसरोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं।
तदसंपओगचिंता तप्पडियाराउलमणस्स ॥७॥

सिर दर्द जैसे किसी दर्द को मिटाने के लिए लगातार सोचना और अगर मिट जाय तो वह फिर न हो यह चिन्ता आर्त ध्यान का दूसरा प्रकार है।

इट्ठाणं विसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स।
अवियोगऽज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो य ॥८॥

अभीष्ट विषयों का वियोग न हो, इसके लिए रागी व्यक्ति को निरन्तर चिन्तन करना पड़ता है। संयोग नहीं हो तो संयोग की अभिलाषा करनी पड़ती है। यह आर्त ध्यान का तीसरा प्रकार है।

देविंद-चक्कवट्टित्तणाइं गुण-रिद्धिपत्थणमईयं।
अहमं नियाणचिंतमण्णाणाणुगयमच्चंतं ॥९॥

देवेन्द्र और चक्रवर्तियों के गुणों एवं सम्पत्तियों की आकांक्षा करने से पैदा होने वाला चिन्तन अतिशय अज्ञान का नतीजा है। यह आर्त ध्यान का चौथा और निकृष्टतम प्रकार है।

एयं चउव्विहं राग-दोस-मोहंकियस्स जीवस्स्।
अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं ॥१०॥

यह चार प्रकार का आर्त ध्यान राग, द्वेष एवं मोह से कलुषित व्यक्तियों को ही होता है। आर्त ध्यान तिर्यंच गति का और जन्म मरण की वृद्धि का मूल कारण है।

मज्झत्थस्स उ मुणिणो सकम्मपरिणामजणियमेयंति।
वत्थुस्सभावचिंतणपरस्स समं (म्मं) सहंतस्स ॥११॥

मुनिजन रागद्वेष में तटस्थ रहते हैं। वे जानते हैं कि हर चीज़ पूर्व जन्म के कर्मों का परिपाक है। इसलिए वे वस्तु स्वभाव के चिन्तन में लीन रहते हुए सभी कुछ समतापूर्वक सहन करते हैं।

कुणओ व पसत्थालंबणस्स पडियारमप्पसावज्जं।
तव-संजमपडियारं च सेवओ धम्मणियाणं ॥१२॥

अगर कोई साधु प्राप्ति की आकांक्षा से रहित है और ज्ञान की प्रशस्त सहायता से तप तथा संयम के रूप में उक्त वेदना का प्रतिकार करता है तो भले ही उसे अल्प और अनिवार्य पाप का सहारा लेना पड़ता हो, उसका प्रतिकार धर्मध्यान है। वह आर्त ध्यान नहीं है।

रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेयवो भणिया।
अट्टंमि य ते तिण्णिवि तो तं संसार-तरुवीयं ॥१३॥

राग, द्वेष और मोह को संसार का कारण माना गया है। ये तीनों आर्त ध्यान में ही फलते-फूलते हैं। इसीलिए आर्त ध्यान को संसार रूपी वृक्ष का बीज कहा गया है।

कावोय-नील-कालालेस्साओ णाइसंकिलिट्ठाओ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥१४॥

कर्मों के उदय से आर्त ध्यानी को कापोत, नील और कृष्ण लेश्याएं होती हैं। लेकिन उसमें वे उतनी प्रभावी नहीं होतीं जितनी रौद्र ध्यानी में होती हैं।

तस्सऽक्कंदण-सोयण-परिदेवण-ताडणाइं लिंगाइं।
इट्ठा ऽणिट्ठविओगाऽविओग-वियणानिमित्ताइं ॥१५॥

क्रन्दन, शोक, परिदेवन और ताड़न ये आर्त ध्यानी के लक्षण हैं। उसमें ये लक्षण इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग की वेदना से पैदा होते हैं।

निंदइ य नियकयाइं पसंसइ सविम्हओ विभूईओ।
पत्थेइ तासु रज्जइ तयज्जणपरायणो होइ ॥१६॥

आर्त ध्यानी खुद के कर्मों की निन्दा और दूसरों की विभूतियों की आश्चर्यपूर्ण प्रशंसा करता है। वह उन विभूतियों को पाने की इच्छा करता है। उनके प्रति मोहग्रस्त हो जाता है। उन्हें पाने को उद्यत होता है।

सद्दाइविसयगिद्धो सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो।
जिणमयमणवेक्खंतो वट्टइ अट्टंमि झाणंमि ॥१७॥

आर्तध्यानी इन्द्रिय विषयों के सम्मोहन में पड़ा रहता है। सच्चे धर्म से विमुख हो जाता है। प्रमाद में पड़ जाता है। जिनमत की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। आर्तध्यान में ही लगा रहता है।

तदविरय-देसविरया-पमायपरसंजयाणुगं झाणं।
सव्वप्पमायमूलं वज्जेयव्वं जइजणेणं ॥१८॥

आर्त ध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत जीवों को होता है। आर्त ध्यान सभी प्रमादों की जड़ है। मुनि और श्रावक सभी को इससे बचना चाहिए।

सत्तवह-वेह-बंधण-डहणंऽकण-मारणाइपणिहाणं।
अइकोहग्गहघत्थं निग्घिणमणसोऽहमविवागं ॥१९॥

तीव्र क्रोध के वशीभूत निर्दय हृदयवाले जीव में अन्य जीवों के वध, वेध, बन्धन, दहन, अंकन, मारण आदि का विचार आना हिंसानुबन्धी नामक पहला रौद्र ध्यान है। इस रौद्र ध्यान का परिणाम अधम होता है।

पिसुणासब्भासब्भूय-भूयघायाइवयणपणिहाणं।
मायाविणोऽइसंधणपरस्त पच्छन्नपावस्स ॥२०॥

दूसरों को ठगने में तत्पर, मायाचारी और प्रच्छन्न पाप से युक्त अन्तःकरण वाले जीव का अनिष्ट, असभ्य, असत्य और प्राणघातक वचनों में संलग्न होना मृषानुबन्धी नामक दूसरा रौद्र ध्यान है।

तह तिव्वकोह-लोहाउलस्स भूओवघायणमणज्जं।
परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेक्खं ॥२१॥

तीव्र क्रोध और लोभ से व्याकुल व्यक्ति के चित्त का दूसरों के धन का अपहरण करने जैसे नीच कर्म में संलग्न रहना स्तेयानुबन्धी नामक तीसरा रौद्र ध्यान है। ऐसा रौद्र ध्यानी व्यक्ति परलोक में होने वाली दुर्गति की भी चिन्ता नहीं करता।

सद्दाइविसयसाहणधणसारक्खणपरायणमट्ठिं।
सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं ॥२२॥

इन्द्रियों के विषय धन से सिद्ध होते हैं। इसलिए विषयासक्त जीव धन के संरक्षण का उद्यम करता रहता है। वह सभी से आशंकित रहता है। उसके मन में सबके घात करने का विचार आता है। यह विषय संरक्षणानुबन्धी नामक चौथा रौद्र ध्यान है।

इय करण-कारणाणुमइविसयमणुचिंतणं चउब्भेयं।
अविरय-देसासंजयजणमणसंसेवियमहण्णं ॥२३॥

उक्त चार प्रकार का रौद्र ध्यान कृत, कारित, अनुमोदन इन तीनों पर घटित होता है। यह अविरत और देशतः असंयत अर्थात् पाँचवें गुणस्थान तक के श्रावकों के मन में होता है।

एयं चउव्विहं राग-दोष-मोहाउलस्स जीवस्स।
रोद्दज्झाणं संसारवद्धणं नरयइमूलं ॥२४॥

उक्त चार प्रकार का रौद्र ध्यान राग, द्वेष और मोह से व्याकुल जीव में होता है। यह जन्ममरण को बढ़ाने वाला और नरकगति का मूल है।

कावोय-नील-काला लेसाओ तिव्वसंकलिट्ठाओ।
रोद्दज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥२५॥

रौद्र ध्यान से ग्रस्त जीव के कर्म परिपाक से होने वाली कापोत, नील और कृष्ण ये तीन अतिशय संक्लिष्ट लेश्याएं होती हैं।

लिंगाइँ तस्स उस्सण्ण-बहुल-नाणाविहारऽऽमरणदोसा।
तेसिं चिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तस्स ॥२६॥

रौद्र ध्यानी के उत्सन्न दोष, बहुल दोष, नाना विध दोष और आमरण दोष होते हैं। ये दोष उसके बाह्य लक्षण हैं।

परवसणं अहिनंदइ निरवेक्खो निद्दओ निरणुतावो।
हरिसिज्जइ कयपावो रोद्दज्झाणोवगयचित्तो ॥२७॥

रौद्र ध्यान में दत्तचित्त व्यक्ति दूसरों पर आई विपत्ति से प्रसन्न होता है। निरपेक्ष और निर्दय होता है। उसे ऐसा होने / रहने का कोई पश्चात्ताप भी नहीं होता।

झाणस्स भावणाओ देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं।
आलंबणं कमं झाइयव्वयं जे य झायारो ॥२८॥
तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंगं फलं च नाऊणं।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं ॥२९॥

मुनियों को चाहिए कि वे भावना, देश, काल, आसन विशेष, आलंबन, क्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल को जानकर धर्मध्यान में प्रवृत्त हों। धर्म ध्यान का अभ्यास करने के बाद उन्हें शुक्ल ध्यान की ओर बढ़ना चाहिए।

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाण-दंसण-चरित्त-वेरग्गनियताओ ॥३०॥

अगर ध्यान के पूर्व भावनाओं का अभ्यास हो जाय तो ध्यान की पात्रता आ जाती है। ये भावनाएं ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य से संबन्धित हैं।

णाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च।
नाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ ॥३१॥

ज्ञान (श्रुतज्ञान) के नित्य अभ्यास से मन की धारणा शक्ति बढ़ती है। ज्ञान से विशुद्धि प्राप्त होती है। ज्ञान ही हमें गुणों के सार तक पहुँचाता है। फलस्वरूप स्थिर बुद्धि से ध्यान करना संभव हो जाता है।

संकाइदोसरहिओ पसम-थेज्जाइगुणगणोवेओ।
होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणंमि ॥३२॥

शंका आदि दोषों से रहित और प्रश्रम, स्थैर्य आदि गुणों से युक्त होने पर व्यक्ति को दर्शन की विशुद्धि प्राप्त हो जाती है। फलस्वरूप वह अपने ध्यान में भटकने से बच जाता है।

नवकम्माणायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं।
चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ ॥३३॥

चारित्र भावना से नए कर्मों का आगम रुकता है। पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होती है। शुभ कर्मों तथा ध्यान की प्राप्ति सहज हो जाती है।

सुविदियजगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्गभावियमणो झाणंमि सुनिच्चलो होइ ॥३४॥

संसार के स्वभाव को भलीभाँति जान लेने और विषयासक्ति, भय तथा अपेक्षाओं से मुक्त होने पर हृदय में वैराग्य भाव उत्पन्न हो जाता है। फलस्वरूप ध्यान में स्थिरता आ जाती है।

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसीलवज्जियं जइणो।
ठाणं वियणं भणियं विसेसओ झाणकालंमि ॥३५॥

युवतियों, पशुओं, नपुंसकों और निन्दनीय आचरण करने वाले व्यक्तियों से शून्य स्थान को साधु के ठहरने योग्य माना गया है। ध्यान के समय तो विशेष रूप से वह स्थान इनसे रहित होना चाहिए।

थिर-कयजोगाणं पुण मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं।
गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥३६ ॥

लेकिन जो साधु योग में स्थिरता और ध्यान में निश्चलता हासिल कर चुके हैं उनके लिए जनाकीर्ण बस्ती और निर्जन वन से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

जो (तो) जत्थ समाहाणं होज्ज मणोवयण-कायजोगाणं।
भूओवरोहरहिओ सो देसो झायमाणस ॥३७॥

भूतोपरोध (भीड़ भाड़ रूपी बाधा, प्राणीहिंसा, असत्य भाषण आदि) से रहित वह जगह जहाँ मन, वचन, काय के योगों का समाधान हो ध्यान के अनुकूल है।

कालोऽवि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
न उ दिवस-निसा-वेलाइनियमाणं झाइयो भणियं ॥३८॥

मन, वचन, काय के योग का श्रेष्ठ समाधान कारक समय ही ध्यान के योग्य है। ध्यान के लिए दिन, रात, वेला आदि का कोई नियम नहीं है।

जच्चिय देहावत्था जिया ण झाणोवरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ॥३९॥

देह की जिस अभ्यस्त अवस्था में निर्बाध ध्यान सम्भव हो उसी अवस्था में ध्यान करना चाहिए। इसमें बैठे या खड़े रहने के किसी खास आसन का महत्त्व नहीं है।

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्ठासु।
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा ॥४०॥
तो देस-काल-चेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि।
जोग समाहाणं जह होइ तहा (प) यइयव्वं ॥४१॥

मुनिजनों ने विभिन्न देश, काल और शरीर की विभिन्न अवस्थाओं में अवस्थित रहते हुए पापों को नष्ट करके कैवल्य प्राप्त किया है। इसलिए आगम में ध्यान के लिए देश, काल, आसन आदि का कोई नियम नहीं दिया गया है। जिसमें मन, वचन, काय के योग सधें वही प्रयत्न करना चाहिए।

आलंबणाइँ वायण-पुच्छण-परियट्टणाऽणुचिंताओ।
सामाइयाइयाइं सद्धम्मावस्सयाइं च ॥४२॥

वाचना, प्रश्न पूछना, सूत्रों का अभ्यास, अनुचिन्तन, सामायिक और सद्धर्म की ज़रूरी बातें-ये ध्यान के आलम्बन हैं।

विसमंमि समारोहइ दढदव्वालंबणो जहा पुरिसो।
सुत्ताइकयालंबो तह झाणवरं समारुहइ ॥४३॥

जिस प्रकार कोई व्यक्ति रस्से जैसे किसी मज़बूत पदार्थ का सहारा लेकर विषम चढ़ाई चढ़ लेता है, उसी प्रकार ध्यान का साधक सूत्रों का सहारा लेकर श्रेष्ठ ध्यान तक जा पहुँचता है।

झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाईओ।
भवकाले केवलिणो सेसाण जहासमाहोए ॥४४॥

मोक्ष होने के ठीक पहले केवल ज्ञानी के (शुक्ल) ध्यान की प्राप्ति का क्रम मनोयोग आदि का निग्रह है। शेष (धर्म ध्यान) के लिए उसकी प्राप्ति का क्रम समाधि के अनुसार है।

सुनिउणमणाइणिहणं भूयहियं भूयभावणमह (ण) ग्घं।
अमियमजियं महत्थं महाणुभावं महाविसयं ॥४५॥
झाइज्जा निरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं।
अणिउणजणदुण्णेयं नय-भंग-पमाण-गमगहणं ॥४६॥

अत्यन्त निपुण, अविनश्वर, प्राणी मात्र की हितकारी, सत्य को प्रकट करने वाली, अमूल्य, अमित, अजित, महान अर्थवती, महानुभाव, महान विषयवाली तथा लोक को प्रकाशित करने वाली जिनेन्द्र भगवान की निर्दोष वाणी का ध्यान करना चाहिए। नय, भंग, प्रमाण और गम से गम्भीर वह निर्दोष वाणी अज्ञानियों के लिए दुर्बोध है।

तत्थ य मइदोब्बलेणं तव्विहायरियविरहओ वावि।
णेयगहणत्तणेण य णाणावरणोदएणं च ॥४७॥
हेऊदाहरणासंभवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा।
सब्वण्णुमयमवितहं तहावि तं चिंतए मइमं ॥४८॥

बुद्धि की दुर्बलता, वस्तु स्वरूप का विश्लेषण करने वाले आचार्यों के अभाव, ज्ञेय विषय की गम्भीरता, उदाहरणों के न होने और ज्ञानावरणी दोष के उदय के कारण तत्त्व को ठीक से समझना संभव नहीं है। तो भी यह चिन्तवन करते रहना चाहिए कि सर्वज्ञ का मत असत्य नहीं हो सकता।

अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जगप्पवरा।
जियराग-दोस-मोहा य णण्णहावादिणो तेणं ॥४९॥

जिनेन्द्र भगवान प्रत्युपकार की प्रत्याशा के बिना ही संसार के उपकार में तत्पर रहते हैं। वे राग, द्वेष, मोह को जीत चुके होते हैं। वे भला वस्तु स्वरूप की असत्य व्याख्या क्यों करेंगे ? यह चिन्तवन करना चाहिए।

रागद्दोस-कसाया ऽऽसवादिकिरियासु वट्टमाणाणं।
इह-परलोयावाओ झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥५०॥

वर्जनीय का त्याग करने वाले धर्मध्यान के साधक को यह भी विचार करते रहना चाहिए कि राग, द्वेष, कषाय और आस्रव में लिप्त प्राणी अपना यह लोक और परलोक बिगाड़ रहे हैं।

पयइ-ठिइ-पएसा ऽणुभावभिन्नं सुहासुहविहत्तं।
जोगाणुभावजणियं कम्मविवागं विचिंतेज्जा ॥५१॥

धर्म ध्यान के साधक को विचार करना चाहिए कि प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाव पर आधारित भेदों वाले कर्म शुभ भी हो सकते हैं और अशुभ भी। योग और अनुभाव से उत्पन्न होने वाले कर्मविपाक पर भी उसे विचार करते रहना चाहिए।

जिणदेसियाइ लक्खण-संठाणा ऽऽसण-विहाण-माणाइं।
उप्पायट्ठिइभंगाइ पज्जवा जे य दव्वाणं ॥५२॥

जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट द्रव्य लक्षण, आकार, आसन, विधान, मान तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर आधारित पर्याय भी धर्म ध्यानी के विचार के विषय होने चाहिए।

पंचत्थिकायमइयं लोगमणाइणिहाणं जिणक्खायं।
णामाइभेयविहियं तिविहमहोलोयभयाइं ॥५३॥

जिनेन्द्र भगवान ने पंचास्तिकाय लोक को अनादि अनन्त कहा है। वह नाम आदि के भेद से आठ प्रकार का और अधोलोक आदि के भेद से तीन प्रकार का है। इस विषय पर भी धर्मध्यानी को विचार करते रहना चाहिए।

खिइ-वलय-दीव-सागर-नरय-विमाण-भवणाइसंठाणं।
वोमाइपइट्ठाणं निययं लोगट्ठिइविहाणं ॥५४॥

धर्म ध्यान के साधक को पृथ्वी, वायुमण्डल, समुद्र, नरक, विमान और भवन के आकार के बारे में तथा आकाश द्रव्य पर आधारित लोकस्थिति की शाश्वत व्यवस्था के बारे में भी विचारलीन रहना चाहिए।

उवओगलक्खणमणाइनिहरणमत्थंतरं सरीराओ।
जीवमरूविं कारिं भोयं च सयस्स कम्मस्स ॥५५॥

जीव का लक्षण उपयोग यानी ज्ञान, दर्शन है। वह (जीव) अनादि अनन्त है। शरीर से भिन्न और अरूपी है। वह अपने कर्मों का खुद ही कर्ता तथा भोक्ता है।

तस्स य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसायपायालं।
वसणसयसावयमणं मोहावत्तं महाभीमं ॥५६॥
अण्णाण-मारुएरियसंजोग-विजोगवीइसंताणं।
संसार-सागरमणोरपारमसुहं विचिंतेज्जा ॥५७॥

जीव के कर्मों से उत्पन्न हुए संसार रूपी समुद्र में जन्ममरण का जल, कषायों के पाताल, दुःखों के हिंसक जलजीव और मोह के भँवर हैं। उसमें अज्ञान रूपी महाभयंकर वायु के कारण मिलन-विरह की लहरें सतत उठती रहती हैं। यह संसार समुद्र अनादि, अनन्त और अशुभ है। धर्म ध्यान में रत व्यक्ति को यह चिन्तवन भी करते रहना चाहिए।

तस्स य संतरणसहं सम्मद्दंसण-सुबंधणमणग्धं।
णाणमयकण्णधारं चारित्तमयं महापोयं ॥५८॥
संवरकयनिच्छिद्दं तव-पवणाइद्धजइणतरवेगं।
वेरग्गमग्गडियं विसोत्तियावीइनिक्खोभं ॥५९॥
आरोढुं मुणि-वणिया महग्घसीलंग-रयणपडिपुन्नं।
जह तं निव्वाणपुरं सिग्घमविग्घेण पावंति ॥६०॥

संसार रूपी समुद्र से हमारा चारित्र रूपी वह महापोत ही पार उतार सकता है जिसका कर्णधार ज्ञान हो, जिसके छेदों को संवर ने बन्द कर रखा हो, जो तप रूपी वायु के कारण वेगवान हो, जो वैराग्य के मार्ग पर चल रहा हो और दूषित ध्यान की लहरें जिसे क्षुब्ध नहीं कर पा रही हों। वास्तव में शीलांग रूपी बेहद कीमती रत्नों से भरे हुए चारित्र रूपी महापोत पर चढ़कर मुनिरूपी व्यापारी निर्वाण रूपी नगर तक निर्बाध जा पहुँचते हैं।

तत्थ य तिरयणविणिओगमइयमेगंतियं निरावाहं।
साभावियं निरुवमं जह सोक्खं अक्खयमुवेंति ॥६१॥

उक्त निर्वाण रूपी नगर में मुनिजन त्रिरत्नों यानी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र के उपयोग स्वरूप एकान्त, निर्बाध, स्वाभाविक, अनुपम और अक्षय सुख प्राप्त करते हैं।

किं ब हुणा? सव्वं चिय जीवाइपयत्थवित्थरोवेयं।
सव्वनयसमूहमयं झाइज्जा समयसब्भावं ॥६२॥

अधिक क्या ? आगम का जो रहस्य जीव अजीव आदि पदार्थों के विस्तार और समस्त नयों के समूह आदि के रूप में है उसका चिन्तवन भी धर्म ध्यान में रत व्यक्ति को करते रहना चाहिए।

सव्वप्पमायरहिया मुणओ खीणोवसंतमोहा य।
झायारो नाण-धणा धम्मज्झाणस्स निद्दिट्ठा ॥६३॥

तमाम प्रमादों से रहित, ज्ञान रूपी धन से संपन्न और क्षीण तथा उपशान्त मोह वाले मुनिजन ही धर्म ध्यान के वास्तविक हक़दार हैं।

एएच्चिय पुव्वाणं पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा।
दोण्ह सजोगाजोगा सुक्काण पराण केवलिणो ॥६४॥

धर्म ध्यान के यही उक्त ध्याता पहले और दूसरे शुक्ल ध्यान के ध्याता हैं। अन्तर यह है कि ये अतिशय प्रशस्त संहनन से युक्त होते हुए श्रुतकेवली होते हैं जबकि तीसरे और चौथे शुक्ल ध्यान के ध्याता क्रमशः सयोग केवली और अयोग केवली होते हैं।

झाणोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो।
होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणेण जो पुव्विं ॥६५॥

धर्म ध्यान से सुवासित चित्तवाले मुनि को ध्यान के अवस्थित न रहने पर अनित्य आदि भावनाओं का चिन्तवन करना चाहिए।

होंति कमविसुद्धाओ लेसाओ पीय-पम्म-सुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व-मंदाइभेयाओ ॥६६॥

धर्म ध्यान से युक्त मुनि को क्रमशः विशुद्धि प्रदान कराने वाली पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएं होती हैं। इन लेश्याओं के तीव्र, मन्द आदि भेद होते हैं।

आगम-उवएसाऽऽणा-णिसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं।
भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥६७॥

जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट जीव, अजीव आदि पदार्थों में आगम, उपदेश तथा आज्ञा से उत्पन्न होने वाली अथवा स्वभावतः उत्पन्न होने वाली श्रद्धा धर्मध्यान की परिचायक है।

जिणसाहूगुणकित्तण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णो।
सुअ-सील-संजमरआ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ॥६८॥

जिनेन्द्र भगवान और मुनियों के कीर्तन, प्रशंसा, विनय एवं दान से संपन्न होता हुआ जो व्यक्ति श्रुत, शील और संयम में लीन रहता है उसे धर्मध्यानी समझना चाहिए।

अह खंति-मद्दवऽज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ।
आलंबणाइँ जेहिं सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥६९॥

जैन धर्म में क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति का प्रधान महत्त्व है। इन आलंबनों से ही व्यक्ति शुक्ल ध्यान तक पहुँचता है।

तिहुयणविसयं कमसो संखिविउ मणो अणुंमि छउमत्थो।
झायइ सुनिप्पकंपो झाणं अमणो जिणो होइ ॥७०॥

शुक्ल ध्यान में स्थिरतापूर्वक लीन व्यक्ति तीन लोक को विषय बनाने वाले अपने मन को क्रमशः संकुचित करता हुआ अणु में स्थापित करता है और फिर मनविहीन होता हुआ अरिहन्त केवली हो जाता है।

जह सव्वसरीरगयं मंतेण विसं निरुंभए डंके।
तत्तो पुणोऽवणिज्जइ पहाणयरमंतजोगेण ॥७१॥
तह तिहुयण-तणुविसयं मणोसिवं जोगमंतबलजुत्तो।
परमाणुंमि निरुंभइ अवणेइ तओवि जिण-वेज्जो ॥७२॥

जिस प्रकार संपूर्ण शरीर में व्याप्त विष को मन्त्र द्वारा डंक के स्थान पर निरुद्ध किया जाता है और फिर ज्यादा प्रबल मन्त्र के द्वारा उसे डंक के स्थान से भी हटा दिया जाता है उसी प्रकार तीन लोकरूपी शरीर को विषय बनाने वाले मन रूपी विष को ध्यान रूपी मन्त्र के बल से परमाणु में अवरुद्ध किया जाता है। फिर जिनेन्द्र भगवान रूपी वैद्य उसे परमाणु से भी हटा देते हैं।

उस्सारियेणधणभरो जह परिहाइ कमसो हुयासुव्व।
थोविंधणावसेसो निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥७३॥
तह विसइंधणहीणो मणोहुयासो कमेण तणुयंमि।
विसइंधणे निरुंभइ निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥७४॥

जैसे ईंधन का संभार कम पड़ जाने पर आग क्रमशः कम पड़ती जाती है और फिर उसके ख़त्म होने पर बुझ जाती है वैसे ही विषय रूपी ईंधन की कमी होने पर मन की आग परमाणु में सिमट जाती है। फिर विषयों का ईंधन ख़त्म होने पर बुझ जाती है।

तोयमिव नालियो तत्तायसभायणोदरत्थं वा।
परिहाइ कमेण जहा तह जोगिमणोजलं जाण ॥७५॥

योगी के मन को किसी घड़े के अथवा लोहे के गरम बरतन के क्रमशः कम होते जाने वाले पानी की तरह समझना चाहिए।

एवं चिय वयजोगं निरुंभइ कमेण कायजोगंपि।
तो सेलेसोव्व थिरो सेलेसी केवली होइ ॥७६॥

मन के योग के समान ही केवली वचन और काया के योग का भी निरोध करते हैं और फिर सुमेरु पर्वत के समान स्थिर होकर शैलेशी केवली हो जाते हैं।

उप्पाय-ट्ठिइ-भंगाइपज्जयाणं जमेगवत्थुंमि।
नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणुसारेणं ॥७७॥
सवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं
होइ पुहुत्तवितक्कं सवियारमरागभावस्स ॥७८॥

जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अवस्थाओं का द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक आदि नयों की दृष्टि से पूर्वगत श्रुत के अनुसार चिन्तन किया जाता है वह अर्थान्तर, व्यंजनान्तर तथा योगान्तर के कारण पृथकत्व वितर्क सवीचार नामक पहला शुक्ल ध्यान है। यह वीतराग को होता है।

जं पुण सुणिप्पकंपं निवायसरणप्पईवमिव चित्तं।
उप्पाय-ठिइ-भंगारइयाणमेगंमि पज्जाए॥७९॥
अवियारमत्थं-वंजण-जोगंतरओ तयं बितियसुक्कं।
पुव्वगयसुयालंबणमेगत्तवितक्कमवियारं॥८०॥

वायु से प्रताड़ित न होने वाले निष्कम्प दीपक की तरह जो अन्तःकरण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य में से किसी एक ही पर्याय में अत्यन्त स्थिर होता है वह एकत्व वितर्क अवीचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान है। यह अर्थान्तर, व्यंजनान्तर और योगान्तर के संक्रमण से रहित होता है। इसीलिए अवीचार कहलाता है। यह पूर्वगत श्रुत का आश्रय लेता है।

निव्वाणगमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स।
सुहुमकिरियाऽनियट्टिं तइयं तणुकायकिरियस्स॥८१॥

मोक्ष गमन के समय कुछ योगों का निरोध कर चुकने वाले और सूक्ष्म क्रिया से युक्त केवली को सूक्ष्मक्रिय अनिवर्ति नामक तीसरा शुक्ल ध्यान होता है।

तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलोव्व णिप्पकंपस्स।
वोच्छिन्नकिरियम्प्पडिवाइज्झाणं परमसुक्कं॥८२॥

मन, वचन, काय के तीनों योगों का उक्त क्रम से निरोध हो जाने पर पर्वत के समान अचल शैलेशी अवस्था में पहुँचे हुए केवली को व्यच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाति नामक सर्वोत्कृष्ट शुक्ल ध्यान होता है।

पढमं जोगे जोगेसु वा मयं बितियमेयजोगंमि।
तइयं च कायजोगे सुक्कमजोगंमि य चउत्थं॥८३॥

पहला शुक्ल ध्यान विभिन्न योगों में और दूसरा एक ही योग में होता है। तीसरा शुक्ल ध्यान सिर्फ काययोग में और चौथा अयोग अवस्था में होता है।

जह छउमत्थस्स मणो झाणं भण्णइ सुनिच्चलो संतो।
तह केवलिणो काओ सुनिच्चलो भन्नए झाणं ॥८४॥

जैसे संसारी व्यक्ति के अविचल हुए मन को ध्यान कहा जाता है वैसे ही केवली के अतिशय अविचल हुए शरीर को ध्यान कहा जाता है।

पुव्वप्पओगओ चिय कम्मविणिज्जरणहेउतो यावि।
सद्दत्थबहुत्ताओ तह जिणचंदागमाओ य ॥८५॥
चित्ताभावेवि सया सुहुमोवरयकिरियाइ भण्णंति।
जीवोवओगसब्भावओ भवत्थस्स झाणाइं ॥८६॥

चित्त का अभाव हो जाने पर भी पूर्वप्रयोग, कर्मनिर्जरा, शब्दार्थ बहुलता और जिनेन्द्र भगवान कृत आगम के आधार पर संसार स्थित केवली का ध्यान सूक्ष्मक्रिय अनिवर्ति तथा व्युपरतक्रिय-अप्रतिपाति ध्यान कहलाता है।
ऐसा इसलिए भी क्योंकि संसार स्थित केवली में चित्त का अभाव हो जाने के बावजूद उसमें जीवोपयोग रूप चित्त तो विद्यमान ही रहता है।

सुक्कज्झाणसुभावियचित्तो चिंतेइ झाणविरमेऽवि।
णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपन्नो ॥८७॥

शुक्ल ध्यान से सुसंस्कृत और चारित्र से युक्त ध्यानसाधक ध्यान के समाप्त हो जाने पर भी चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करता है।

आसवदारावाए तह संसारासुहाणुभावं च।
भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं च ॥८८॥

कर्मागम के कारण होने वाले दुःख, संसार की अशुभरूपता, जन्ममरण रूप भवसंतान और चेतन-अचेतन वस्तु मात्र की नश्वरता ये चार अनुप्रेक्षाएं हैं।

सुक्काए लेसाए दो ततियं परमसुक्कलेस्साए।
थिरयाजियसेलेसिं लेसाईयं परमसुक्कं ॥८९॥

पहले दो शुक्ल ध्यान शुक्ल लेश्या में, तीसरा परम शुक्ल लेश्या में और अपनी अविचलता में बड़े पर्वत को भी जीत लेनेवाला चौथा परम शुक्ल ध्यान लेश्याओं से परे होता है।

श्रवहाऽसंमोह-विवेग-विउसग्गा तस्स होंति लिंगाइं।
लिंगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥९०॥

शुक्ल ध्यान के चार लिंग अर्थात् परिचायक हैं-अवध, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग। इनसे मुनि के चित्त का शुक्ल ध्यान में संलग्न होना सूचित होता है।

चालिज्जइ बीभेइ य धीरो न परीसहोवसग्गेहिं।
सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु ॥९१॥

परिषहों तथा उपसर्गों से विचलित और भयभीत न होना अवध लिंग का और सूक्ष्म पदार्थों तथा देवकृत माया से मोहग्रस्त न होना असम्मोह लिंग का स्वरूप है।

देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह सव्वसंजोगे।
देहोवहिवोसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥९२॥

यह समझना कि मैं देह से भिन्न हूँ और देह से संदर्भित स्त्री, सन्तान आदि महज संयोग हैं शुक्ल ध्यान का परिचायक विवेक लिंग है। देह तथा अन्य परिग्रहों से निःसंग होना शुक्ल ध्यान का परिचायक व्युत्सर्ग लिंग है।

होंति सुहासव-संवर-विणिज्जराऽमरसुहाइं विउलाइं।
झाणवरस्स फलइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥९३॥

पुण्य कर्मों का बन्ध, पाप कर्मों का संवर, संचित कर्मों की निर्जरा और स्वर्ग की प्राप्ति ये धर्मध्यान के उत्तरोत्तर विपुल और विशुद्ध होते जाने वाले फल हैं।

ते य विसेसेण सुभसवादओऽणुत्तरामरसुहं च।
दोण्हं सुक्काण फलं परिनिव्वाणं परिल्लाणं ॥९४॥

शुभ कर्मों का बन्ध और अनुपम देवसुख ये विशेष रूप से पहले दो शुक्ल ध्यानों के फल हैं। बाद के दो शुक्ल ध्यानों का फल मोक्ष की प्राप्ति है।

आसवदारा संसारहेयवो जं ण धम्म-सुक्केसु।
संसारकारणाइ तओ ध्रुवं धम्म-सुक्काइं ॥९५॥

संसार का कारण कर्मों का आस्रव है। चूंकि धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में कर्मों का आस्रव नहीं होता इसलिए धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान संसार के नहीं मोक्ष के कारण हैं।

संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो तवो पहो तासिं।
झाण च पहाणंगं तवस्स तो मोक्खहेऊयं ॥९६॥

संवर और निर्जरा से मोक्ष मिलता है। लेकिन संवर और निर्जरा की प्राप्ति तप से होती है। तप का प्रधान तत्त्व ध्यान है। इसलिए ध्यान मोक्ष का कारण है।

अंबर-लोह-महीणं-कमसो जह मल-कलंक-पंकाणं।
सोज्झावणयण-सोसे साहेंति जलाऽणलाऽऽइच्चा ॥९७॥
तह सोज्झाइसमत्था जीवंबर-लोह-मेइणिगयाणं।
झाण-जलाऽणल-सूरा कम्म-मल-कलंक-पकाणं ॥९८॥

जिस प्रकार जल वस्त्र के मैल को, आग लोहे की ज़ंग को और सूर्य पृथ्वी के कीचड़ को खत्म कर डालता है, उसी प्रकार ध्यान आत्मा से संलग्न कर्म के मैल को खत्म कर देता है।

तापो सोसो भेओ जोगाणं झाणओ जहा नियय।
तह ताव-सोस-भेया-कम्मस्स वि झाइणो नियमा ॥९९॥

जिस प्रकार ध्यान वचन आदि योगों का तापन, शोषण और विदारण करता है उसी प्रकार वह ध्याता के कर्मों का भी तापन, शोषण और विदारण करता है।

जह रोगासयसमणं विसोसण-विरेयणोसहविहीहिं।
तह कम्मामसयमणं झाणाणसण इजोगेहिं ॥१००॥

जिस प्रकार शोषक और विरेचक विधियों तथा औषधियों से रोग का शमन किया जाता है उसी प्रकार ध्यान, उपवास आदि से कर्मरूपी रोग को शान्त किया जाता है।

जह चिरसंचियमिंधणमनलो पवणसहिओ दुयं दहइ।
तह कम्मेंधणममियं खणेण झाणाणलो डहइ ॥१०१॥

जिस प्रकार तेज़ हवा वाली आग लम्बे समय से इकट्ठा हुए ईंधन को शीघ्र जला डालती है, उसी प्रकार ध्यान की आग संचित कर्मों के ईंधन को क्षण मात्र में जला देती है।

जह वा घणसंघाया खणेणे पवणाहया विलिज्जंति।
झाण-पवणावहूया तह कम्म-घणा विलिज्जंति ॥१०२॥

जैसे हवा से ताडित होकर बादलों का समूह क्षणभर में विलीन हो जाता है वैसे ही ध्यान की हवा से विघटित होकर कर्म के बादल विलीन हो जाते हैं।

न कसायसमुत्थेहि य बाहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं।
ईसा-विसाय-सोगाइएहिं झाणोवगयचित्तो ॥१०३॥

जो चित्त ध्यान में लीन रहता है वह कषायों से उत्पन्न होने वाले ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता।

सीयाऽऽयवाइएहि य सारीरेहिं सुबहुप्पागारेहिं।
झाणसुनिच्चलचित्तो न ब (बा) हिज्जइ निज्जरापेही ॥१०४॥

जो चित्त ध्यान में लीन रहता है वह कर्मों की निर्जरा की प्रतीक्षा में होता है। उसे शीत, ताप आदि बहुविध शारीरिक दुःखों का अहसास नहीं होता।

इय सव्वगुणाधाणं दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं।
सुपसत्थं सद्धेयं नेयं झेयं च निच्चंपि ॥१०५॥

वास्तव में ध्यान में तमाम गुण हैं। वह दृष्ट और अदृष्ट सुखों का साधन है। अतिशय प्रशस्त है। उस पर श्रद्धा रखनी चाहिए। उसे जानना चाहिए। उसे अपने चिन्तन का विषय बनाना चाहिए।

परिशिष्ट –१

अविरत = असंयत गुणस्थान तक के जीव।

अनुभाव = अविरति, प्रमाद, कषाय आदि।

अर्थान्तर = अर्थ यानी ध्यान के विषय द्रव्य, पर्याय। द्रव्य और पर्याय के चिन्तन का पारस्परिक संक्रमण।

अनुप्रेक्षा = कर्मागम के फलस्वरूप हुए दुःख, संसार की अशुभरूपता, जन्ममरण रूप भवसंतान, चेतन-अचेतन की नश्वरता आदि का बार-बार चिन्तन।

अंकन = तप्त लौह शलाकाओं से दागना।

आगम =आचार्य परम्परा से आगत मूल सिद्धान्त सूत्र।

आज्ञा = उपदेश का अर्थ या अभिप्राय, जिन शासन।

आमरण दोष = जीवन में कभी पश्चात्ताप नहीं करना।

आकार = पुद्गल की रचना का रूप, वस्तु का संस्थान।

उत्सन्न दोष = किसी एक रौद्र ध्यान में बहुलता से प्रवृत्त होना।

उपदेश = सूत्र के अनुसार किया गया कथन।

गम = चतुर्विंशति दण्डक आदि, मन वचन काय के विभिन्न दण्ड।

छद्मस्थ = संसारी व्यक्ति, अल्पज्ञ।

ताड़न = सिर, छाती आदि पीटना।

देशविरत = संयतासंयत जीव।

नय = अनेक धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का विवेचन, ज्ञान का एक अंश।

नानाविध दोष = चमड़ी छीलने, नेत्र उखाड़ने जैसी हिंसा में प्रवृत्त होना।

प्रमाण = वस्तु के मान का ज्ञान कराने वाले द्रव्य, क्षेत्र, काल। संपूर्ण वस्तु का ज्ञान।

प्रमत्त संयत = प्रमादयुक्त क्रिया करने वाले जीव।

परिदेवन = क्लेशयुक्त कथन।

पंचास्तिकाय = जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश । ये पाँच द्रव्य अधिक प्रमाण के कारण कायवान हैं । इसलिए इन्हें पंचास्तिकाय कहते हैं।

बहुल दोष = सभी रौद्र ध्यानों में बहुलता से प्रवृत्त होना।

भूतोपरोध = प्राणिहिंसा, असत्य भाषण आदि।

भंग = क्रम तथा स्थान के आधार पर होने वाले भेद। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि के भेद।

भवन = भवनवासी देवों का निवास स्थान ।

मान = धर्मास्तिकाय आदि का अपना-अपना प्रमाण।

योगान्तर= तीनों योगों के चिन्तन का पारस्परिक संक्रमण।

लेश्या = आत्मा को कर्म से लिप्त करने वाली प्रवृत्तियाँ। कृष्ण और कापोत अशुभ एवं पीत, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्याएं हैं ।

वाचना = विचार और स्मरण के लिए शिष्य को दिया गया सूत्र।

व्यंजनान्तर = व्यंजन यानी शब्द। विभिन्न श्रुत वचनों के चिन्तन का पारस्परिक संक्रमण।

विधान = जीव-पुद्गलादि के भेद।

वीचार = अर्थ, व्यंजन और योग का परिवर्तन/संक्रान्ति। विषय का प्रथम ज्ञान वितर्क है। उसका बार-बार चिन्तवन वीचार है।

विमान = वैमानिक देवों का निवास स्थान ।

शैलेशी = पर्वतराज के समान स्थिर ।

सयोग केवली - अयोग केवली - केवल ज्ञानी जब तक विहार और उपदेश करते हैं और तीनों योगों से युक्त होते हैं तब तक सयोग केवली और जब आयु के अन्तिम समय में विहार एवं उपदेश से विराम ले लेते हैं तब अयोग केवली कहलाते हैं। सयोग केवली १३वें और अयोग केवली १४वें गुणस्थानवर्ती होते हैं।

संहनन = सघनता, दृढ़ता। अस्थियों का दृढ़ बन्धन विशेष। वज्रऋषभनाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन - ये तीन उत्तम संहनन हैं। इन्हीं में ध्यान संभव है।

For more information please visit
www.hindibooks.8m.com

ISBN 978-81-88769-21-6